

Chapter सोलह

वैकुण्ठ के दो द्वारपालों, जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप

ब्रह्मोवाच

इति तद्गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम् ।
प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; इति—इस प्रकार; तत्—वाणी; गृणताम्—प्रशंसा करते हुए; तेषाम्—उन; मुनीनाम्—चारों मुनियों का; योग-धर्मिणाम्—ब्रह्म के साथ युक्त होने में लगे हुए; प्रतिनन्द्य—बधाई देकर; जगाद—कहा; इदम्—ये शब्द; विकुण्ठ-निलयः—जिनका धाम चिन्ता से रहित है; विभुः—भगवान् ने।

ब्रह्माजी ने कहा : इस तरह मुनियों को उनके मनोहर शब्दों के लिए बधाई देते हुए भगवद्धाम में निवास करनेवाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च ।
कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रातामतिक्रमम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एतौ—ये दोनों; तौ—वे; पार्षदौ—परिचर; मह्यम्—मेरे; जयः—जय नामक; विजयः—विजय नामक; एव—निश्चय ही; च—तथा; कदर्थी-कृत्य—अवहेलना करके; माम्—मुझको; यत्—जो; वः—तुम्हारे विरुद्ध; बहु—अत्यधिक; अक्राताम्—किया है; अतिक्रमम्—अपराध।

भगवान् ने कहा : जय तथा विजय नामक मेरे इन परिचरों ने मेरी अवज्ञा करके आपके प्रति महान् अपराध किया है।

तात्पर्य : भगवद्भक्त के चरणों पर अपराध करना एक भारी दोष है। यदि जीव वैकुण्ठलोक भी पहुँच जाय तो भी सम्भावना बनी रहती है कि वह अपराध करे, किन्तु अन्तर यही है कि जब वह वैकुण्ठ लोक में होता है और यदि संयोगवश वहाँ कोई अपराध करता भी है, तो भगवान् उसको बचा लेते हैं। भगवान् तथा सेवक के बर्तावों की यही विशिष्टता है, जैसाकि जय तथा विजय से सम्बन्धित प्रस्तुत घटना में देखा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त अतिक्रमम् शब्द सूचित करता है कि भक्त का अपमान करते समय मनुष्य स्वयं भगवान् की उपेक्षा कर देता है।

द्वारपालों ने गलती से मुनियों को वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने से रोका, किन्तु क्योंकि वे भगवान् की दिव्य सेवा में लगे थे, अतएव बड़े-चढ़े भक्तों को आशा न थी कि वे विनष्ट हो सकते हैं। उस

स्थान पर भगवान् की उपस्थिति भक्तों के हृदयों को अत्यन्त मोहक थी। भगवान् समझ गये कि असली झंझट तो उनके चरणकमलों का मुनियों को न दिखना था, इसीलिए उन्होंने स्वयं चलकर उन्हें प्रसन्न करना चाहा। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि भक्त को कोई अवरोध होता है, तो वे स्थिति को इस तरह सँभालते हैं कि भक्त को उनके चरणकमलों के दर्शन से विहीन नहीं होना पड़ता। हरिदास ठाकुर के जीवन में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। जब चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथ पुरी में रह रहे थे तो हरिदास ठाकुर, जो जन्मना मुसलमान थे, उनके साथ थे। हिन्दू मन्दिरों में, विशेष रूप से उन दिनों, केवल हिन्दू को ही प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। यद्यपि आचरण से हरिदास ठाकुर सर्वोच्च हिन्दू थे तो भी वे अपने को मुसलमान मानते थे और उन्होंने मन्दिर में प्रवेश नहीं किया। श्री चैतन्य महाप्रभु उनकी दीनता को समझ चुके थे और चूँकि वे मन्दिर में दर्शन करने नहीं गए थे, अतः श्री चैतन्य महाप्रभु, जो जगन्नाथ जी से अभिन्न हैं, हरिदास ठाकुर के पास नित्य ही आते और उनके साथ बैठते थे। यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में भी हम भगवान् के इसी आचरण को पाते हैं। उनके भक्तों को उनके चरणकमलों का दर्शन पाने से रोका गया था, किन्तु भगवान् उन्हीं चरणकमलों से चलकर उन्हें देखने आये जिसकी उन्हें कामना थी। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि लक्ष्मीजी उन के साथ थीं। लक्ष्मी देवी सामान्य व्यक्तियों को नहीं दिखतीं, किन्तु भगवान् इतने कृपालु थे कि यद्यपि भक्तों ने ऐसे सम्मान की कामना नहीं की थी, तो भी वे लक्ष्मीजी के साथ उनके समक्ष प्रकट हुए।

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः ।

स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—लेकिन; एतयोः—जय तथा विजय के विषय में; धृतः—दिया गया; दण्डः—दण्ड; भवद्भिः—आपके द्वारा; माम्—मुझको; अनुव्रतैः—भक्ति करने वाले; सः—वह; एव—निश्चय ही; अनुमतः—अनुमोदित; अस्माभिः—मेरे द्वारा; मुनयः—हे मुनियो; देव—आपके विरुद्ध; हेलनात्—अपराध के कारण।

हे मुनियो, आप लोगों ने उन्हें जो दण्ड दिया है उसका मैं अनुमोदन करता हूँ, क्योंकि आप मेरे भक्त हैं।

तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे ।

तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; वः—तुम मुनियों; प्रसादयामि—तुमसे क्षमा चाहता हूँ; अद्य—अभी; ब्रह्म—ब्राह्मण; दैवम्—अत्यन्त प्रिय व्यक्ति; परम्—सर्वोच्च; हि—क्योंकि; मे—मेरा; तत्—वह अपराध; हि—क्योंकि; इति—इस प्रकार; आत्म-कृतम्—मेरे द्वारा किया हुआ; मन्ये—मानता हूँ; यत्—जो; स्व-पुम्भिः—मेरे सेवकों द्वारा; असत्-कृताः—अनादरित।

मेरे लिए ब्राह्मण सर्वोच्च तथा सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति है। मेरे सेवकों द्वारा दिखाया गया अनादर वास्तव में मेरे द्वारा प्रदर्शित हुआ है, क्योंकि वे द्वारपाल मेरे सेवक हैं। इसे मैं अपने द्वारा किया गया अपराध मानता हूँ, इसलिए मैं घटी हुई इस घटना के लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् सदैव ब्राह्मणों तथा गौवों का पक्ष लेते हैं, इसीलिए गोब्राह्मण हिताय च कहा गया है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण या विष्णु ब्राह्मणों के पूज्य देव भी हैं। वैदिक वाङ्मय में, ऋग्वेद के ऋगमंत्र में कहा गया है कि जो वास्तव में ब्राह्मण हैं, वे सदैव विष्णु के चरणकमलों की ओर ताकते हैं—*ऊँ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*। जो लोग योग्य ब्राह्मण हैं, वे भगवान् के विष्णु रूप की ही पूजा करते हैं जिसका अर्थ कृष्ण, राम तथा विष्णु के समस्त अंश हैं। तथाकथित ब्राह्मण जो ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है, किन्तु वैष्णवों के विपरित कार्य करता है उसे ब्राह्मण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ब्राह्मण का अर्थ है वैष्णव और वैष्णव का अर्थ है ब्राह्मण। जो भगवान् का भक्त बन जाता है, वह भी ब्राह्मण है। सूत्र है *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*। ब्राह्मण वह है, जिसने ब्रह्म को समझ लिया है और वैष्णव वह है, जिसने भगवान् को समझ लिया है। ब्रह्म-साक्षात्कार तो भगवान् साक्षात्कार की शुरुआत है। जो भगवान् को समझता है, वह परम के निर्विशेष रूप को भी जानता है, जो कि ब्रह्म है। अतः जो व्यक्ति वैष्णव बनता है, वह पहले से ब्राह्मण होता है। यह ध्यान देना होगा कि भगवान् द्वारा इस अध्याय में वर्णित ब्राह्मण की महिमाएँ उनके भक्त-ब्राह्मण या वैष्णव की द्योतक हैं। इससे कभी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि इस सन्दर्भ में तथाकथित ब्राह्मण का जो कि ब्राह्मण परिवारों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु जिनमें कोई भी ब्राह्मण गुण नहीं पाये जाते, उल्लेख हुआ है।

यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि ।

सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके; नामानि—नाम; च—तथा; गृह्णाति—ग्रहण करता है; लोकः—सामान्य जन; भृत्ये—जब एक सेवक; कृत-आगसि—कुछ गलती कर चुकता है; सः—वह; असाधु-वादः—दोष; तत्—उस व्यक्ति की; कीर्तिम्—ख्याति; हन्ति—नष्ट करता है; त्वचम्—चमड़ी; इव—सदृश; आमयः—कोढ़।

किसी सेवक द्वारा किये गये गलत कार्य से सामान्य तौर पर लोग उसके स्वामी को दोष देते हैं जिस तरह शरीर के किसी भी अंग पर श्वेत कुष्ठ के धब्बे सारे चमड़ी को दूषित बना देते हैं।

तात्पर्य : अतएव वैष्णव को पूरी तरह सुयोग्य होना चाहिए। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है, जो कोई वैष्णव बन जाता है उसमें देवता के सारे सद्गुण आ जाते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में छब्बीस गुणों का उल्लेख हुआ है। एक भक्त को सदैव यह देखना चाहिए कि कृष्णभावनामृत में प्रगति के साथ साथ उसके वैष्णव गुणों में वृद्धि हो। भक्त को दोषरहित रहना चाहिए, क्योंकि भक्त द्वारा किया गया कोई अपराध भगवान् पर दाग है। भक्त का कर्तव्य है कि अन्यो के साथ अपने बर्तावों में, विशेष रूप से भगवान् के अन्य भक्त के साथ अपने बर्तावों में, सदैव सचेत रहे।

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः

सद्यः पुनाति जगदाश्रपचाद्विकुण्ठः ।

सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-

श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अमृत—अमृत; अमल—दूषणरहित; यशः—यश, महिमा; श्रवण—सुनना; अवगाहः—प्रविष्ट करना; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र करती है; जगत्—ब्रह्माण्ड; आश्र-पचात्—कुत्ता-भक्षक तक; विकुण्ठः—चिन्तारहित; सः—वह व्यक्ति; अहम्—मैं हूँ; भवद्भ्यः—आप से; उपलब्ध—प्राप्त; सु-तीर्थ—तीर्थयात्रा का सर्वोत्तम स्थान; कीर्तिः—यश; छिन्द्याम्—काट देगा; स्व-बाहुम्—अपनी भुजा; अपि—भी; वः—तुम्हारे प्रति; प्रतिकूल-वृत्तिम्—शत्रुवत् कार्य करते हुए।

सम्पूर्ण संसार में कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि चण्डाल भी जो कुत्ते का मांस पका कर और खा कर जीता है, वह भी तुरन्त शुद्ध हो जाता है यदि वह मेरे नाम, यश आदि के गुणगान रूपी अमृत में कान से सुनते हुए स्नान करता है। अब आप लोगों ने निश्चित रूप से मेरा साक्षात्कार कर लिया है, अतएव मैं अपनी ही भुजा को काटकर अलग करने में तनिक संकोच नहीं करूँगा, यदि इसका आचरण आपके प्रतिकूल लगे।

तात्पर्य : यदि मानव समाज के सदस्य कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लें तो उसका वास्तविक शुद्धिकरण हो सकता है। सारे वैदिक वाङ्मय में इसका स्पष्ट उल्लेख है। जो भी निष्ठापूर्वक कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह, सद्व्यवहार में उन्नत न होने पर भी शुद्ध हो जाता है। भक्त का चयन मानव समाज के किसी भी वर्ग से किया जा सकता है, यद्यपि यह आशा नहीं की जाती कि समाज के सारे अंगों के सारे लोग अच्छे व्यवहार वाले हैं। जैसाकि इस श्लोक में तथा *भगवद्गीता* में

कई स्थानों पर कहा गया है कि यदि कोई ब्राह्मण कुल में जन्म न भी ले या यदि वह चण्डालों के परिवार में भी जन्म ले, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। *भगवद्गीता* (९.३०-३२) में स्पष्ट कहा गया है कि चाहे मनुष्य सुन्दर आचरण का न हो, किन्तु यदि वह केवल कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह साधु स्वभाव वाला व्यक्ति समझा जाता है। जब तक कोई व्यक्ति इस भौतिक जगत में है, तब तक अन्यो के साथ बर्ताव में उसके दो विभिन्न सम्बन्ध रहते हैं—एक तो शरीर से सम्बन्धित और दूसरा आत्मा से सम्बन्धित। जहाँ तक शारीरिक मामलों या सामाजिक कार्यों का सम्बन्ध है, यद्यपि मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर शुद्ध होता है, किन्तु कभी कभी देखा जाता है कि वह शारीरिक सम्बन्धों के परिपेक्ष्य में कार्य करता है। यदि चण्डाल परिवार में उत्पन्न भक्त कभी कभी अपने स्वभावगत कार्य करता देखा जाता है, तो उसे चण्डाल नहीं समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, वैष्णव का मूल्यांकन उसके शरीर के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। शास्त्र कहते हैं कि मन्दिर के अर्चाविग्रह को कभी कोई काष्ठ या पत्थर का बना हुआ न समझे, न ही कोई यह सोचे कि निम्न जाति से आने वाला व्यक्ति जिसने कृष्णभावनामृत स्वीकार कर लिया है अब भी उसी निम्न जाति का है। ऐसे विचारों का निषेध है, क्योंकि जो भी कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह पूर्णतया शुद्ध समझा जाता है। कम से कम, वह शुद्धि की प्रक्रिया में लगा हुआ होता है और यदि वह कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त पर दृढ़ रहता है, तो वह शीघ्र ही पूरी तरह से शुद्ध हो जाएगा। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई गम्भीरता के साथ कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, तो वह पहले से शुद्ध हुआ माना जाता है और कृष्ण उसे सभी प्रकार से सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं। यहाँ पर भगवान् विश्वास दिलाते हैं कि वे अपने भक्त को सुरक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं चाहे उन्हें अपने ही शरीर के एक अंग को काट फेंकने की आवश्यकता क्यों न पड़े।

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं

सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।

न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः

प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसकी; सेवया—सेवा द्वारा; चरण—पाँव; पद्म—कमल; पवित्र—पवित्र; रेणुम्—धूल; सद्यः—तुरन्त; क्षत—पोंछी गई; अखिल—समस्त; मलम्—पापों को; प्रतिलब्ध—अर्जित; शीलम्—स्वभाव; न—नहीं; श्रीः—लक्ष्मीजी; विरक्तम्—कोई आसक्ति न रखना; अपि—यद्यपि; माम्—मुझको; विजहाति—छोड़ती हैं; यस्याः—लक्ष्मी का; प्रेक्षा—लव-अर्थः—थोड़ी भी कृपा पाने के लिए; इतरे—अन्य, यथा ब्रह्मा जैसे; नियमान्—पवित्र व्रतों को; वहन्ति—पालन करते हैं।

भगवान् ने आगे कहा : चूँकि मैं अपने भक्तों का सहायक हूँ, इसलिए मेरे चरणकमल इतने पवित्र बन चुके हैं कि वे तुरन्त ही सारे पापों को धो डालते हैं और मुझे ऐसा स्वभाव प्राप्त हो चुका है कि देवी लक्ष्मी मुझे छोड़ती नहीं, यद्यपि उसके प्रति मेरा कोई लगाव नहीं है और अन्य लोग उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं तथा उसकी रंचमात्र कृपा पाने के लिए भी पवित्र व्रत रखते हैं।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त के मध्य का सम्बन्ध दिव्यतः सुन्दर है। जिस तरह भक्त सोचता है कि भगवद्भक्त होने से वह समस्त गुणों में समुन्नत है उसी तरह भगवान् भी सोचते हैं कि सेवक के प्रति उनकी भक्ति के कारण ही उनकी सारी दिव्य महिमाएँ बढ़ गई हैं। दूसरे शब्दों में, जिस तरह भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहता है उसी तरह भगवान् भक्त की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। यहाँ पर भगवान् यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि उनमें निश्चित रूप से ऐसा गुण है कि जिस किसी को उनके चरणकमलों की धूल का कण भी प्राप्त हो जाता है, वह तुरन्त ही महापुरुष बन जाता है, किन्तु यह महानता अपने भक्त के लिए उनके स्नेह के कारण है। इसी स्नेह के कारण लक्ष्मीजी उन्हें छोड़ती नहीं और एक नहीं, हजारों लक्ष्मियाँ उनकी सेवा में लगी रहती हैं। भौतिक जगत में लक्ष्मीजी से रंचमात्र कृपा पाने के लिए लोग तपस्या के अनेक कठोर अनुष्ठानों का पालन करते हैं। भगवान् भक्त की किसी भी असुविधा को सहन नहीं कर पाते। इसीलिए वे भक्तवत्सल के रूप में विख्यात हैं।

नाहं तथाच्चि यजमानहर्विविताने

श्च्योतद्धृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन ।

यद्वाहाणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं

तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; तथा—दूसरी ओर; अच्चि—खाता हूँ; यजमान—यज्ञकर्ता द्वारा; हविः—आहुति; विताने—यज्ञ-अग्नि में; श्च्योतत्—डालते हुए; घृत—घी; प्लुतम्—मिश्रित; अदन्—खाते हुए; हुत-भुक्—यज्ञ की अग्नि; मुखेन—मुँह से; यत्—

क्योंकि; ब्राह्मणस्य—ब्राह्मण के; मुखतः—मुख से; चरतः—कार्य करते हुए; अनुघासम्—कौर; तुष्टस्य—तुष्ट; मयि—मेरे लिए; अवहितैः—अर्पित किया गया; निज—अपना; कर्म—कार्यकलाप; पाकैः—फलों के द्वारा।

यज्ञाग्नि में, जो मेरे ही निजी मुखों में से एक है, यज्ञकर्ताओं के द्वारा डाली गई आहुतियों में मुझे उतना स्वाद नहीं मिलता जितना कि घी से सिक्त उन व्यंजनों से जो उन ब्राह्मणों के मुख में अर्पित किये जाते हैं जिन्होंने अपने कर्मों के फल मुझे अर्पित कर दिये हैं और जो मेरे प्रसाद से सदैव तुष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : भगवद्भक्त या वैष्णव भगवान् को अर्पित किये बिना कोई वस्तु ग्रहण नहीं करता। चूँकि वैष्णव अपने सारे कर्मफल भगवान् को अर्पित कर देता है, अतः वह किसी ऐसी खाद्य वस्तु का आस्वादन नहीं करता जो पहले भगवान् को अर्पित न की गई हो। भगवान् भी अपने को अर्पित सारे खाद्य पदार्थों को वैष्णवों के मुखों में देकर आस्वादन करते हैं। इस श्लोक से स्पष्ट है कि भगवान् यज्ञाग्नि तथा ब्राह्मण के मुख के माध्यम से भोजन करते हैं। अतः भगवान् को तुष्ट करने के लिए यज्ञ में अनेक वस्तुएँ—अन्न, घी, आदि—अर्पित की जाती हैं। भगवान् ब्राह्मणों तथा भक्तों से यज्ञ की भेंट स्वीकार करते हैं। अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को खाने के लिए जो कुछ अर्पित किया जाता है उसे भगवान् भी स्वीकार करते हैं, किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के मुखों की भेंटों को और अधिक स्वाद से स्वीकार करते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हरिदास ठाकुर के साथ अद्वैत प्रभु के बर्तावों में पाया जाता है। यद्यपि हरिदास मुसलमान परिवार में जन्मे थे, किन्तु अद्वैत प्रभु ने पवित्र अग्नि उत्सव सम्पन्न करने के बाद प्रसाद की पहली थाली उन्हें ही भेंट की थी। हरिदास ठाकुर ने उन्हें बतलाया कि मैं मुसलमान परिवार में पैदा हुआ हूँ तो आप पहली थाली किसी उच्च ब्राह्मण को भेंट न करके एक मुसलमान को क्यों प्रदान कर रहे हैं? हरिदास ने अपनी विनयशीलतावश ही अपने को मुसलमान कहकर भर्त्सना की, किन्तु अनुभवी भक्त होने के कारण अद्वैत प्रभु ने उन्हें असली ब्राह्मण माना। अद्वैत प्रभु ने कहा कि हरिदास ठाकुर को पहली थाली भेंट करके वे एक लाख ब्राह्मणों को खिलाने का फल प्राप्त कर रहे हैं। निष्कर्ष यह निकला कि यदि कोई एक ब्राह्मण या वैष्णव को खिला सकता है, तो यह लाखों यज्ञ करने से अच्छा है। इसीलिए इस युग में संस्तुति की गई है कि *हरेर्नाम* अर्थात् भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करना तथा वैष्णवों को प्रसन्न करना ही मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन तक ऊपर उठाने के एकमात्र साधन हैं।

येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोग-

मायाविभूतिरमलाङ्घिरजः किरीटैः ।

विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः

सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

येषाम्—ब्राह्मणों का; बिभर्मि—धारण करता हूँ; अहम्—मैं; अखण्ड—अटूट; विकुण्ठ—बिना अवरोध के; योग-माया—अन्तरंगा शक्ति; विभूतिः—ऐश्वर्य; अमल—शुद्ध; अङ्घ्रि—पाँवों की; रजः—धूलि; किरीटैः—मेरे मुकुट पर; विप्रान्—ब्राह्मण; तु—लेकिन; कः—कौन; न—नहीं; विषहेत—ले जाते हैं; यत्—भगवान् का; अर्हण-अम्भः—पाँवों को धोने से प्राप्त जल; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र बनाता है; सह—सहित; चन्द्र-ललाम—शिवजी; लोकान्—तीनों लोकों को।

मैं अपनी अबाधित अन्तरंगा शक्ति का स्वामी हूँ तथा गंगा जल मेरे पाँवों को धोने से निकलता हुआ जल है। वही जल जिसे शिवजी अपने सिर पर धारण किए हुए हैं, उनको तथा तीनों लोकों को पवित्र करता है। यदि मैं वैष्णव के पैरों की धूल को अपने सिर पर धारण करूँ, तो मुझे ऐसा करने से कौन मना करेगा ?

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में अन्तर यह है कि अन्तरंगा शक्ति में अथवा आध्यात्मिक जगत में सभी ऐश्वर्य अविचल रहते हैं जबकि बहिरंगा अथवा भौतिक शक्ति में सारे ऐश्वर्य नश्वर अभिव्यक्ति होते हैं। भगवान् की श्रेष्ठता आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही जगत्‌ों में समान होती है, किन्तु आध्यात्मिक जगत भगवत्-साम्राज्य कहलाता है और भौतिक जगत माया का साम्राज्य कहलाता है। माया द्योतक है उसकी जो वास्तव में तथ्य नहीं है। भौतिक जगत का ऐश्वर्य प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यह भौतिक जगत उस वृक्ष की तरह है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत की छाया है। असली ऐश्वर्य तो आध्यात्मिक जगत में रहता है। आध्यात्मिक जगत के अधिष्ठाता देव स्वयं भगवान् हैं जबकि भौतिक जगत में अनेक स्वामी हैं। अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों में यही अन्तर है। भगवान् कहते हैं कि यद्यपि वे ही अन्तरंगा शक्ति के प्रधान कारण हैं और यद्यपि भौतिक जगत उनके पादप्रक्षालित जल से पवित्र बनता है, तो भी उनके मन में ब्राह्मण तथा वैष्णव के प्रति सर्वाधिक आदर रहता है। जब भगवान् स्वयं ही वैष्णव तथा ब्राह्मण को इतना आदर प्रदान करते हैं, तो फिर इन पुरुषों को ऐसा आदर प्रदान करने से कौन इनकार कर सकता है ?

ये मे तनूद्विजवरान्दुहतीर्मदीया
 भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
 द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान्
 गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो पुरुष; मे—मेरा; तनूः—शरीर; द्विज-वरान्—ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ; दुहतीः—गौवें; मदीयाः—मुझसे सम्बन्धित;
 भूतानि—जीव; अलब्ध-शरणानि—आश्रयविहीन; च—तथा; भेद-बुद्ध्या—भिन्न मानते हुए; द्रक्ष्यन्ति—देखते हैं; अघ—पाप
 के द्वारा; क्षत—क्षतिग्रस्त; दृशः—निर्णय की शक्ति; हि—क्योंकि; अहि—सर्पवत्; मन्यवः—क्रुद्ध; तान्—उन्हीं व्यक्तियों को;
 गृध्राः—गीध जैसे दूत; रुषा—क्रोध से; मम—मेरे; कुषन्ति—नोच डालते हैं; अधिदण्ड-नेतुः—दण्ड के अधीक्षक, यमराज
 का ।

ब्राह्मण, गौवें तथा निस्सहाय प्राणी मेरे ही शरीर हैं। जिन लोगों की निर्णय शक्ति अपने पाप के कारण क्षतिग्रस्त हो चुकी है वे इन्हें मुझसे पृथक् रूप में देखते हैं। वे क्रुद्ध सर्पों के समान हैं और वे पापी पुरुषों के अधीक्षक यमराज के गीध जैसे दूतों की चोचों से क्रोध में नोच डाले जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता के अनुसार गौवें, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, बच्चे तथा वृद्ध पुरुष निस्सहाय प्राणी हैं। इन पाँचों में से ब्राह्मणों तथा गौवों का इस श्लोक में विशेष उल्लेख हुआ है, क्योंकि भगवान् ब्राह्मणों तथा गौवों के हित के विषय में सदा चिन्तित रहते हैं और इसी रूप में वन्दित होते हैं। अतएव भगवान् विशेष रूप से उपदेश देते हैं कि किसी को इन पाँचों से, विशेष रूप से गौवों तथा ब्राह्मणों से, ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। भागवत के किन्हीं किन्हीं पाठों में दुहतीः के स्थान पर दुहित्रिः शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु दोनों ही शब्दों से अर्थ एक ही निकलता है। दुहतीः का अर्थ “गाय” है और दुहित्रिः का भी अर्थ “गाय” हो सकता है, क्योंकि गाय को सूर्यदेव की पुत्री माना जाता है। जिस तरह से बच्चों की देखरेख उनके माता-पिता द्वारा की जाती है उसी तरह स्त्री-वर्ग की देखरेख पिता, पति या सयाने पुत्र द्वारा की जानी चाहिए। जो लोग असहाय हैं उनकी देखरेख उनके अभिभावकों द्वारा की जानी चाहिए अन्यथा वे यमराज द्वारा दण्डित किये जायेंगे, क्योंकि यमराज भगवान् द्वारा पापी प्राणियों के कार्यकलापों का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त हैं। यहाँ पर यमराज के सहायकों या दूतों की उपमा गीधों से दी गई है और जो लोग अपने रक्षकों की रक्षा करने का कर्तव्य नहीं निभाते उनकी तुलना सर्पों से की गई है। गीध सर्पों के साथ बहुत ही बुरी तरह से बर्ताव करते हैं; उसी तरह दूत असावधान अभिभावकों के साथ बुरी तरह पेश आते हैं।

ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्त-

स्तुष्यद्दृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।

वाण्यानुरागकलयात्मजवद्गृणन्तः

सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहृतस्तैः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणजन; मयि—मुझमें; धिया—बुद्धिपूर्वक; क्षिपतः—कटुवचन बोलते हुए; अर्चयन्तः—आदर करते हुए; तुष्यत्—हर्षित हुए; दृदः—हृदय; स्मित—हँसी; सुधा—अमृत; उक्षित—नम; पद्म—कमल सदृश; वक्त्राः—मुखमंडल; वाण्या—शब्दों से; अनुराग-कलया—प्रेम करते हुए; आत्मज-वत्—पुत्र के समान; गृणन्तः—प्रशंसा करते हुए; सम्बोधयन्ति—सान्त्वना देते हैं; अहम्—मैं; इव—सदृश; अहम्—मैं; उपाहृतः—नियंत्रित होकर; तैः—उनके द्वारा।

दूसरी ओर ऐसे लोग जो हृदय में पुलकित रहते हैं और अमृततुल्य हँसी से आलोकित अपने कमलमुखों से ब्राह्मणों द्वारा कटु वचन बोलने पर भी उनका आदर करते हैं, वे मुझे मोह लेते हैं। वे ब्राह्मणों को मुझ जैसा ही मानते हैं और प्रियवचनों से उनकी प्रशंसा करके उन्हें उसी तरह शान्त करते हैं जिस तरह पुत्र अपने क्रुद्ध पिता को प्रसन्न करता है या मैं तुम लोगों को शान्त कर रहा हूँ।

तात्पर्य : वैदिक शास्त्रों में कई स्थानों पर यह कहा गया है कि जब ब्राह्मण या वैष्णव क्रुद्ध होकर किसी को शाप देते हैं, तो शापित व्यक्ति ब्राह्मणों या वैष्णवों के साथ वैसा ही व्यवहार करने का भार अपने ऊपर नहीं लेता। इसके अनेक उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, जब कुवेर के पुत्रों को नारद मुनि ने शाप दिया तो उन्होंने उसी कटु रीति से बदला नहीं लेना चाहा, अपितु आत्म-समर्पण कर दिया। यहाँ भी जब जय और विजय चार कुमारों से शापित किए गए तो वे उन से कटु रीति से पेश नहीं आए; अपितु उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के साथ बर्ताव करने की यही विधि होनी चाहिए। कभी कभी ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न की गई गम्भीर स्थिति का सामना करना पड़ सकता है, किन्तु उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करके हँसकर तथा मृदु व्यवहार द्वारा उसे शान्त करने का प्रयास करना चाहिए। ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को नारायण का पार्थिव प्रतिनिधि मानना चाहिए। आजकल कुछ मूर्ख व्यक्तियों ने दरिद्रनारायण शब्द गढ़ लिया है, जिससे यह सूचित होता है कि दरिद्र व्यक्ति को नारायण का प्रतिनिधि स्वीकार करना चाहिए। किन्तु वैदिक वाङ्मय में हम यह कहीं नहीं पाते कि दरिद्र व्यक्तियों को नारायण का प्रतिनिधि माना जाय। निस्सन्देह, “जो अलब्धशरणं या असुरक्षित हैं” का यहाँ पर उल्लेख है, किन्तु शास्त्रों से इस पद की परिभाषा स्पष्ट है। दरिद्र व्यक्ति को असुरक्षित नहीं

होना चाहिए, लेकिन ब्राह्मण को विशेष रूप से नारायण का प्रतिनिधि माना जाना चाहिए और उन्हीं नारायण के समान उनकी पूजा की जानी चाहिए। इसका विशेष उल्लेख है कि ब्राह्मण को शान्त करने के लिए कमल जैसा मुख होना चाहिए। कमल जैसा मुख तब दिखता है जब मनुष्य प्रेम तथा वात्सल्य से अलंकृत हो। इस सम्बन्ध में पुत्र पर पिता को क्रुद्ध होने तथा पुत्र द्वारा हँसीले तथा मधुर शब्दों से पिता को शान्त करने का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है।

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्षमाणौ

युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः ।

भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे

यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तत्—इसलिए; मे—मेरा; स्व-भर्तुः—अपने स्वामी का; अवसायम्—मनोभाव; अलक्षमाणौ—न जानते हुए; युष्मत्—तुम्हारे विरुद्ध; व्यतिक्रम—अपराध; गतिम्—फल; प्रतिपद्य—पाकर; सद्यः—तुरन्त; भूयः—पुनः; मम अन्तिकम्—मेरे निकट; इताम्—प्राप्त करते हैं; तत्—वह; अनुग्रहः—कृपा; मे—मुझको; यत्—जो; कल्पताम्—व्यवस्थित हो; अचिरतः—शीघ्र ही; भृतयोः—इन दोनों सेवकों का; विवासः—निर्वासन, देश निकाला।

मेरे इन सेवकों ने अपने स्वामी के मनोभाव को न जानते हुए आपके प्रति अपराध किया है, इसलिए मैं इसे अपने प्रति किया गया अनुग्रह मानूँगा यदि आप यह आदेश दें कि वे मेरे पास शीघ्र ही लौट आयें तथा मेरे धाम से उनका निर्वासन-काल शीघ्र ही समाप्त हो जाय।

तात्पर्य : इस कथन से हम समझ सकते हैं कि भगवान् अपने सेवकों को वैकुण्ठ वापस लाने के लिए कितने चिन्तित हैं। इसलिए यह घटना सिद्ध करती है कि जो लोग एक बार वैकुण्ठ में प्रविष्ट हो चुके हैं, वे कभी नीचे नहीं गिर सकते। जय तथा विजय का मामला पतन का नहीं है, यह तो मात्र एक घटना है। ऐसे भक्तों को जल्द से जल्द वैकुण्ठ वापस लाने के लिए भगवान् सदैव चिन्तित रहते हैं। यह कल्पना करनी होगी कि भगवान् तथा भक्तों के मध्य किसी प्रकार की भ्रान्ति की संभावना नहीं रहती, किन्तु जब एक भक्त तथा दूसरे भक्त के बीच कोई विभेद या व्यवधान आता है, तो भक्त को परिणाम भोगना पड़ता है, यद्यपि यह कष्ट क्षणिक होता है। भगवान् अपने भक्तों पर इतने दयालु हैं कि उन्होंने द्वारपालों के अपराध का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और मुनियों से प्रार्थना की कि वे उन्हें ऐसी सुविधाएँ प्रदान करें जिससे वे जल्दी से जल्दी वैकुण्ठ वापस आ सकें।

ब्रह्मोवाच

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम् ।

नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; उवाच—कहा; अथ—अब; तस्य—परमेश्वर का; उशतीम्—मनोहर; देवीम्—चमकते; ऋषि-कुल्याम्—वैदिक स्तोत्रों की शृंखला के समान; सरस्वतीम्—वाणी; न—नहीं; आस्वाद्य—सुनकर; मन्यु—क्रोध; दष्टानाम्—काटा गया; तेषाम्—उन मुनियों के; आत्मा—मन; अपि—यद्यपि; अतृप्यत—तृष्ट किया।

ब्रह्मा ने आगे कहा : यद्यपि मुनियों को क्रोध रूपी सर्प ने डस लिया था, किन्तु उनकी आत्माएँ भगवान् की उस मनोहर तथा तेजपूर्ण वाणी को सुनकर अघाई नहीं थीं जो वैदिक मंत्रों की शृंखला के समान थी।

सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम् ।

विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सतीम्—सर्वोत्तम; व्यादाय—ध्यानपूर्वक सुनकर; शृण्वन्तः—सुनते हुए; लघ्वीम्—ठीक से रचा हुआ; गुरु—गहन; अर्थ—आशय; गह्वराम्—समझ पाना कठिन; विगाह्य—मनन करके; अगाध—गहरा; गम्भीराम्—गम्भीर; न—नहीं; विदुः—समझते हैं; तत्—परमेश्वर का; चिकीर्षितम्—मनोभाव।

भगवान् की उत्कृष्ट वाणी इसके गहन आशय तथा इसके अत्यधिक गहन महत्व के कारण समझी जाने में कठिन थी। मुनियों ने उसे कान खोलकर सुना तथा उस पर मनन भी किया। किन्तु सुनकर भी वे यह नहीं समझ पाये कि भगवान् क्या करना चाह रहे हैं।

तात्पर्य : यह समझना चाहिए कि बोलने में भगवान् से कोई पार नहीं पा सकता। परम पुरुष तथा उनकी वाणी में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वे परम पद पर स्थित हैं। मुनियों ने भगवान् के होठों से निस्सृत शब्दों को कान खोलकर सुनने-समझने का प्रयास किया, किन्तु मुनिगण ठीक से समझ न पाये कि वे क्या कह रहे हैं, यद्यपि उनकी वाणी अति संक्षिप्त तथा अर्थपूर्ण थी। वे वाणी का तात्पर्य तक नहीं समझ पाये कि वे क्या कहना चाह रहे हैं। न ही वे यह समझ सके कि भगवान् उन पर क्रुद्ध हैं या प्रसन्न हैं।

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम् ।

प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; योग-मायया—उनकी अन्तरंगा शक्ति द्वारा; आरब्ध—प्रकट किया गया; पारमेष्ठ्य—भगवान् का; महा-उदयम्—बहुमुखी यश; प्रोचुः—बोले; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़कर; विप्राः—चारों ब्राह्मण; प्रहृष्टाः—अत्यधिक प्रसन्न; क्षुभित-त्वचः—रोमांचित।

तो भी चारों ब्राह्मण मुनि उन्हें देखकर अतीव प्रसन्न थे और उन्होंने अपने सम्पूर्ण शरीरों में रोमांच का अनुभव किया। तब उन भगवान् से जिन्होंने अपनी योगमाया से परम पुरुष की बहुमुखी महिमा को प्रकट किया था, वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : चारों मुनि भगवान् के समक्ष पहली बार बोलने में उलझन सी अनुभव कर रहे थे और अतीव हर्ष के कारण उन्हें रोमांच हो आया। भौतिक जगत का सर्वोच्च ऐश्वर्य पारमेष्ठ्य कहलाता है, जो कि ब्रह्मा का ऐश्वर्य है। किन्तु इस भौतिक जगत के सर्वोच्चलोक में रहने वाले ब्रह्मा का वह भौतिक ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य की बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि आध्यात्मिक जगत में दिव्य ऐश्वर्य योगमाया द्वारा उत्पन्न होता है, जबकि भौतिक जगत में यह ऐश्वर्य महामाया द्वारा उत्पन्न होता है।

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन्विद्मस्तव देव चिकीर्षितम् ।

कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—कहा; न—नहीं; वयम्—हम; भगवन्—हे भगवान्; विद्मः—जानते थे; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; चिकीर्षितम्—करने की इच्छा; कृतः—किया हुआ; मे—मेरे प्रति; अनुग्रहः—कृपा; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्—जो; अध्यक्षः—परम शासक; प्रभाषसे—तुम कहते हो।

ऋषियों ने कहा : हे भगवन्, हम यह नहीं जान पा रहे कि आप हमारे लिए क्या करना चाहते हैं, क्योंकि आप सबों के परम शासक होते हुए भी हमारे पक्ष में बोल रहे हैं मानो हमने आपके साथ कोई अच्छाई की हो।

तात्पर्य : मुनिगण यह जान गये कि पुरुषोत्तम भगवान्, जो सबों के ऊपर हैं, इस तरह बोल रहे हैं, मानो उनसे कोई गलती हो गई हो। अतएव उनके लिए भगवान् के शब्दों को समझ पाना कठिन हो रहा था। किन्तु वे यह समझ गये कि भगवान् ऐसे विनीत स्वर में इसलिए बोल रहे हैं जिससे वे अपना सर्व-दयामय अनुग्रह उन्हें दिखा सकें।

ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो ।

विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मण्यस्य—ब्राह्मण संस्कृति के परम निदेशक का; परम्—सर्वोच्च; दैवम्—स्थिति, पद; ब्राह्मणाः—ब्राह्मण जन; किल—अन्यों को शिक्षा देने के लिए; ते—तुम्हारा; प्रभो—हे प्रभु; विप्राणाम्—ब्राह्मणों का; देव-देवानाम्—देवताओं द्वारा पूजे जाने के लिए; भगवान्—भगवान्; आत्म—स्वयं; दैवतम्—पूज्य विग्रह ।

हे प्रभु, आप ब्राह्मण संस्कृति के परम निदेशक हैं। ब्राह्मणों को सर्वोच्च पद पर आपके द्वारा माना जाना अन्यों को शिक्षा देने के लिए आपका उदाहरण है। वस्तुतः आप न केवल देवताओं के लिए, अपितु ब्राह्मणों के लिए भी परम पूज्य विग्रह हैं।

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् समस्त कारणों के कारण हैं। निस्सन्देह, देवता तो अनेक हैं, किन्तु उनमें प्रधान ब्रह्मा तथा शिव हैं। भगवान् विष्णु ब्रह्मा तथा शिव के प्रभु हैं, तो इस भौतिक जगत में ब्राह्मणों के विषय में क्या कहा जाय? जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है, भगवान् ब्राह्मण संस्कृति या इन्द्रियों तथा मन के नियंत्रण, स्वच्छता, सहिष्णुता, शास्त्रों में श्रद्धा तथा सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के गुणों के अनुसार सम्पन्न सारे कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुकूल रहते हैं। भगवान् सबों के परमात्मा हैं। भगवद्गीता में कहा गया है कि भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं और इस तरह वे ब्रह्मा तथा शिव के भी स्रोत हैं।

त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव ।

धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्वत्तः—तुमसे; सनातनः—शाश्वत; धर्मः—वृत्ति; रक्ष्यते—रक्षा किया जाता है; तनुभिः—अनेक अभिव्यक्तियों द्वारा; तव—तुम्हारा; धर्मस्य—धार्मिक सिद्धान्तों का; परमः—परम; गुह्यः—विषय; निर्विकारः—अपरिवर्तनीय; भवान्—आप; मतः—हमारे मत से।

आप सारे जीवों की शाश्वत वृत्ति के स्रोत हैं और भगवान् के नाना स्वरूपों द्वारा आपने सदैव धर्म की रक्षा की है। आप धार्मिक नियमों के परम लक्ष्य हैं और हमारे मत से आप अक्षय तथा शाश्वत रूप से अपरिवर्तनीय हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक का धर्मस्य परमो गुह्यः कथन समस्त धार्मिक सिद्धान्तों के अति गोपनीय अंश का द्योतक है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में हुई है। अर्जुन को दिये गये उपदेश में भगवान् कृष्ण का निष्कर्ष है “अन्य सारे धार्मिक कार्य त्याग दो और केवल मेरी शरण में आओ।” धार्मिक सिद्धान्तों को सम्पन्न करने में यह सर्वाधिक गुह्य ज्ञान है। भगवद्गीता में यह भी कहा गया है कि कोई व्यक्ति

अपने नियमित धार्मिक कर्तव्यों को दृढ़तापूर्वक सम्पन्न करके यदि कोई कृष्णभावनाभावित नहीं बनता है, तो तथाकथित धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करने में उसका सारा श्रम समय का अपव्यय मात्र है। यहाँ मुनिगण इस कथन की भी पुष्टि करते हैं कि देवता नहीं, अपितु परमेश्वर ही सारे धार्मिक सिद्धान्तों के चरम लक्ष्य हैं। ऐसे अनेक मूर्ख विज्ञापनकर्ता हैं, जो यह कहते हैं कि देवताओं की पूजा भी परम लक्ष्य तक पहुँचने की विधि है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के प्रामाणिक कथनों में इसे स्वीकार नहीं किया गया है। *भगवद्गीता* कहती है कि जो व्यक्ति किसी विशेष देवता की पूजा करता है, वह उस देवता के लोक पहुँच सकता है, किन्तु जो पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करता है, वह वैकुण्ठ में प्रवेश कर सकता है। कुछ विज्ञापनकर्ता कहते हैं कि कोई चाहे जो कुछ करता रहे अन्ततः वह भगवद्भ्राम पहुँचेगा ही, किन्तु यह वैध नहीं है। भगवान् शाश्वत हैं और भगवान् का सेवक शाश्वत होता है तथा भगवान् का धाम भी शाश्वत है। इन सबों को यहाँ पर *सनातन* या शाश्वत कहा गया है। इसलिए भक्ति का फल उतना अस्थायी नहीं है जितना कि देवताओं की पूजा करने से स्वर्गलोक की प्राप्ति है। मुनिगण इस बात पर बल देना चाह रहे थे कि यद्यपि भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से यह कहते हैं कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों की पूजा करते हैं, किन्तु वस्तुतः भगवान् न केवल ब्राह्मणों तथा वैष्णवों द्वारा पूजित हैं, अपितु देवताओं द्वारा भी पूजित हैं।

तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात् ।

योगिनः स भवान्किं स्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तरन्ति—पार करते हैं; हि—क्योंकि; अञ्जसा—आसानी से; मृत्युम्—जन्म तथा मृत्यु को; निवृत्ताः—सारी भौतिक इच्छाओं को छोड़ करके; यत्—तुम्हारे; अनुग्रहात्—कृपा से; योगिनः—योगीजन; सः—परमेश्वर; भवान्—आप; किम् स्वित्—कभी सम्भव नहीं; अनुगृह्येत—अनुग्रह किया जा सकता है; यत्—जो; परैः—अन्यों द्वारा।

भगवान् की कृपा से योगीजन तथा अध्यात्मवादी समस्त भौतिक इच्छाओं को छोड़कर अज्ञान को पार कर जाते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं कि कोई परमेश्वर पर अनुग्रह कर सके।

तात्पर्य : जब तक किसी पर परमेश्वर की कृपा नहीं होती तब तक वह बारम्बार होने वाले जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान-सागर को पार नहीं कर सकता। यहाँ यह कहा गया है कि योगीजन या अध्यात्मवादी लोग भगवान् की कृपा से अज्ञान-सागर को पार कर जाते हैं। योगी कई प्रकार के हैं

यथा कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी तथा भक्तियोगी। कर्मीजन तो विशेष रूप से देवताओं की कृपा की खोज करते हैं, ज्ञानीजन परब्रह्म से एकाकार हो जाना चाहते हैं तथा योगीजन भगवान् (परमात्मा) की आंशिक झलक मात्र से और अन्त में उनसे एकत्व प्राप्त करने से तुष्ट हो जाते हैं। किन्तु भक्तगण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का शाश्वत सान्निध्य पाना और उनकी सेवा करना चाहते हैं। यह पहले ही माना जा चुका है कि भगवान् शाश्वत हैं और जो लोग परमेश्वर का निरन्तर अनुग्रह चाहते हैं, वे भी शाश्वत हैं। इसलिए यहाँ पर योगियों का अर्थ भक्त है। भगवत्कृपा से भक्तगण जन्म तथा मृत्यु के अज्ञान को सरलता से पार कर सकते हैं और भगवान् के नित्य धाम को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए भगवान् को अन्य की कृपा की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कोई न तो उनके तुल्य है, न ही उनसे बढ़कर है। वस्तुतः अपने मानव उद्देश्य की सफल जानकारी के लिए सबों को भगवान् की कृपा की आवश्यकता पड़ती है।

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यै-

रथार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः ।

धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो

लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; वै—निश्चय ही; विभूतिः—लक्ष्मी जी; उपयाति—प्रतीक्षा में खड़ी रहती है; अनुवेलम्—यदा कदा; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अर्थ—भौतिक सुविधा; अर्थिभिः—चाहने वालों के द्वारा; स्व-शिरसा—अपने अपने सिरों पर; धृत—स्वीकार करते हुए; पाद—पाँवों की; रेणुः—धूल; धन्य—भक्तों के द्वारा; अर्पित—अर्पित; अङ्घ्रि—आपके चरणों पर; तुलसी—तुलसी दल के; नव—नवीन; दाम—माला पर; धाम्नः—स्थान वाला; लोकम्—स्थान; मधु-व्रत-पतेः—भौरों के राजा का; इव—सदृश; काम-याना—प्राप्त करने के लिए उत्सुक है।

जिनके चरणों की धूल अन्य लोग अपने शिरों पर धारण करते हैं, वहीं लक्ष्मीदेवी आपकी पूर्व निर्धारित सेवा में रहती हैं, क्योंकि वे उन भौरों के राजा के धाम में स्थान सुरक्षित करने के लिए उत्सुक रहती हैं, जो आपके चरणों पर किसी धन्य भक्त के द्वारा अर्पित तुलसीदलों की ताजी माला पर मँडराता है।

तात्पर्य : जैसाकि पहले वर्णन किया जा चुका है, भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाने के कारण तुलसी को सारे श्रेष्ठतम गुण मिले हैं। यहाँ पर प्रयुक्त उपमा अति उत्तम है। जिस तरह भौरों का राजा भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित तुलसी दलों पर मँडराता रहता है उसी प्रकार लक्ष्मीजी,

जिनकी तलाश देवताओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा अन्य सबों को रहती है, भगवान् के चरणकमलों की सेवा में सदैव ही लगी रहती हैं। निष्कर्ष यह है कि कोई व्यक्ति भगवान् का उपकारी नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के दास का दास है।

यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां

नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः ।

स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः

श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; ताम्—लक्ष्मी को; विविक्त—नितान्त शुद्ध; चरितैः—भक्ति; अनुवर्तमानाम्—सेवा करते हुए; न—नहीं; अत्याद्रियत्—अनुरक्त; परम—सर्वाधिक; भागवत—भक्तगण; प्रसङ्गः—अनुरक्त; सः—परमेश्वर; त्वम्—तुम; द्विज—ब्राह्मणों के; अनुपथ—पथ पर; पुण्य—पवित्र की गई; रजः—धूल; पुनीतः—शुद्ध किया हुआ; श्रीवत्स—श्रीवत्स का; लक्ष्म—चिह्न; किम्—क्या; अगाः—तुमने प्राप्त किया है; भग—सारे ऐश्वर्य या सारे सद्गुण; भाजनः—आगार; त्वम्—तुम।

हे प्रभु, आप अपने शुद्ध भक्तों के कार्यों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं फिर भी आप उन लक्ष्मीजी से कभी अनुरक्त नहीं रहते जो निरन्तर आपकी दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती हैं। अतएव आप उस पथ की धूल द्वारा कैसे शुद्ध हो सकते हैं जिन पर ब्राह्मण चलते हैं, और अपने वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न के द्वारा आप किस तरह महिमामंडित या भाग्यशाली बन सकते हैं?

तात्पर्य : ब्रह्म-संहिता में कहा गया है कि भगवान् अपने वैकुण्ठ लोक में लाखों लक्ष्मियों द्वारा सदैव सेवित होते हैं, किन्तु समस्त ऐश्वर्यों से विरक्त रहने की भावना से वे उनमें से किसी के प्रति भी अनुरक्त नहीं होते। भगवान् के छह ऐश्वर्य हैं—असीम सम्पत्ति, असीम यश, असीम बल, असीम सौन्दर्य, असीम ज्ञान तथा असीम त्याग। सारे देवता तथा अन्य जीव लक्ष्मीजी की कृपा पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। फिर भी भगवान् उन लक्ष्मीजी के प्रति अनुरक्त नहीं रहते, क्योंकि अपनी दिव्य सेवा कराने के लिए वे असंख्य लक्ष्मियों को उत्पन्न कर सकते हैं। कभी-कभी लक्ष्मीजी को उन तुलसी दलों से ईर्ष्या होती है, जो भगवान् के चरणकमलों पर चढ़ाये जाते हैं, क्योंकि वे दल वहीं पर स्थिर रहते हैं और हटते नहीं जबकि लक्ष्मीजी, उनके वक्षस्थल पर स्थित रहते हुए भी, कभी कभी उन अन्य भक्तों को प्रसन्न करने के लिए जाती रहती हैं, जो उनकी कृपा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। लक्ष्मी जी को कभी कभी अपने असंख्य भक्तों को तुष्ट करने जाना पड़ता है, किन्तु तुलसीदल कभी अपने स्थान को नहीं छोड़ते। इसीलिए भगवान् लक्ष्मीजी की सेवा की अपेक्षा तुलसी की सेवा को अधिक चाहते

हैं। इसलिए जब भगवान् यह कहते हैं कि ब्राह्मणों की अहैतुकी कृपा से ही लक्ष्मीजी उन्हें नहीं छोड़ती तो हम यह समझ सकते हैं कि लक्ष्मीजी भगवान् के ऐश्वर्य से आकृष्ट होती हैं, उन पर ब्राह्मणों के आशीर्वादों के कारण नहीं। भगवान् अपने ऐश्वर्य के लिए किसी की कृपा पर आश्रित नहीं हैं, वे सदैव आत्माराम हैं। भगवान् का यह कथन कि उनका ऐश्वर्य ब्राह्मणों तथा वैष्णवों के आशीष के कारण है, अन्य लोगों को यह शिक्षा देने के लिए है कि वे ब्राह्मणों तथा वैष्णवों का आदर करें जो भगवान् के ही भक्त होते हैं।

धर्मस्य ते भगवत्स्त्रियुग त्रिभिः स्वैः
 पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम् ।
 नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च
 सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धर्मस्वरूप; ते—तुम्हारा; भगवतः—भगवान् का; त्रि-युग—तीनों युगों में प्रकट होने वाले आप; त्रिभिः—तीन; स्वैः—अपने; पद्भिः—पाँवों द्वारा; चर-अचरम्—चर तथा अचर; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; द्विज—दो बार जन्म लेने वाला; देवता—देवता; अर्थम्—के लिए; नूनम्—किन्तु; भृतम्—सुरक्षित; तत्—वे पाँव; अभिघाति—विनष्ट करते हुए; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतोगुण का; नः—हमको; वर-दया—सारे आशीर्वाद देते हुए; तनुवा—अपने दिव्य रूप द्वारा; निरस्य—भगाकर।

हे प्रभु, आप साक्षात् धर्म हैं। अतः आप तीनों युगों में अपने को प्रकट करते हैं और इस तरह इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हैं जिसमें चर तथा अचर प्राणी रहते हैं। आप शुद्ध सत्त्व रूप तथा समस्त आशीषों को प्रदान करने वाली कृपा से देवताओं तथा द्विजों के रजो तथा तमो गुणों को भगा दें।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को त्रियुग—सत्य, द्वापर तथा त्रेता—इन तीनों युगों में प्रकट होने वाला कहा गया है। चतुर्थ युग अथवा कलियुग में उनके प्रकट होने का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ। वैदिक वाङ्मय में वर्णन हुआ है कि वे कलियुग में छत्र अवतार के रूप में आते हैं, किन्तु प्रकट अवतार के रूप में नहीं आते। किन्तु अन्य युगों में भगवान् प्रकट अवतार होते हैं, इसीलिए उन्हें त्रियुग कहकर सम्बोधित किया गया है।

श्रीधर स्वामी ने त्रियुग का वर्णन इस प्रकार किया है : युग का अर्थ है “जोड़ा” तथा त्रि का अर्थ है “तीन।” भगवान् अपने छह ऐश्वर्यों के द्वारा तीन जोड़ों या ऐश्वर्य के तीन जोड़ों के रूप में प्रकट

होते हैं। इस तरह उन्हें त्रियुग के रूप में सम्बोधित किया जा सकता है। भगवान् धार्मिक सिद्धान्तों के साक्षात् रूप हैं। तीन युगों में धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा तीन प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति के द्वारा की जाती है जिनके नाम हैं तप, शौच तथा दया। इस तरह से भी भगवान् त्रियुग कहलाते हैं। कलियुग में आध्यात्मिक संस्कृति कि ये तीन आवश्यक अनिवार्यताएँ अनुपस्थित सी रहती हैं, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि कलियुग के इन तीनों आध्यात्मिक गुणों से रहित होने पर भी वे आते हैं और श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में छत्र अवतार के तौर पर इस युग के लोगों की रक्षा करते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु छत्र अवतार कहलाते हैं। यद्यपि वे स्वयं कृष्ण हैं, किन्तु वे कृष्ण के भक्त रूप में अपने को प्रस्तुत करते हैं, साक्षात् कृष्ण रूप में नहीं। इसलिए भक्तगण श्री चैतन्य महाप्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे इस युग की सर्वाधिक प्रमुख सम्पत्तियों—रजो तथा तमो गुणों—को दूर कर दें। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में मनुष्य श्री चैतन्य द्वारा प्रवर्तित भगवान् के नाम, हरे कृष्ण, हरे कृष्ण का कीर्तन करके रजो तथा तमो गुणों को अपने से दूर कर सकता है।

चारों कुमार रजो तथा तमो गुणों में अपनी स्थिति से ज्ञात थे, क्योंकि वैकुण्ठ में होते हुए भी उन्होंने भगवान् के भक्तों को शाप देना चाहा। चूँकि उन्हें अपनी दुर्बलता का भान था, अतः उन्होंने अपने में शेष रजो तथा तमो गुणों को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। तीन दिव्य गुण—शौच, तप तथा दया—द्विजों तथा देवताओं के गुण हैं। जो सतोगुण में स्थित नहीं हैं, वे आध्यात्मिक संस्कृति के इन तीन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के लिए तीन पापकर्म हैं जिनकी मनाही की जाती है। ये हैं अवैध यौन, मादक द्रव्य सेवन तथा कृष्ण को अर्पित प्रसाद के अतिरिक्त अन्य भोजन खाना। ये तीनों निषेध तपस्या, शौच तथा दया के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। भक्तगण दयालु होते हैं, क्योंकि वे दीन पशुओं को नहीं मारते, तथा स्वच्छ रहते हैं, क्योंकि वे अवाञ्छित खाद्य पदार्थों तथा अवाञ्छित आदतों के कल्मष से मुक्त रहते हैं। तपस्या का प्रतिनिधित्व नियंत्रित यौन जीवन द्वारा किया जाता है। चारों कुमारों की प्रार्थनाओं द्वारा इंगित किये गये इन सिद्धान्तों का पालन उन भक्तों द्वारा किया जाना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में लगे हुए हैं।

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदि हात्मगोपं

गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्होव नड्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था
लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; त्वम्—तुम; द्विज—दो बार जन्म लेने वाले का; उत्तम-कुलम्—सर्वोच्च जाति; यदि—यदि; ह—निस्सन्देह; आत्म-गोपम्—आपके द्वारा रक्षित होने के योग्य; गोप्ता—रक्षक; वृषः—सर्वोत्कृष्ट; सु-अर्हणेन—पूजा द्वारा; स-सूनृतेन—मृदु शब्दों के साथ साथ; तर्हि—तब; एव—निश्चय ही; नड्क्ष्यति—खो जायेगा; शिवः—शुभ; तव—तुम्हारा; देव—हे प्रभु; पन्थाः—पथ; लोकः—सामान्यजन; अग्रहीष्यत्—स्वीकार करेगा; ऋषभस्य—सर्वोत्कृष्ट का; हि—क्योंकि; तत्—वह; प्रमाणम्—प्रमाण ।

हे प्रभु, आप सर्वोच्च द्विजों के रक्षक हैं। यदि आप पूजा तथा मृदु वचनों को अर्पित करके उनकी रक्षा न करें तो निश्चित है कि पूजा का शुभ मार्ग उन सामान्यजनों द्वारा परित्यक्त कर दिया जाएगा जो आपके बल तथा प्रभुत्व पर कर्म करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् ने कहा है कि महापुरुषों के कार्यों तथा चरित्र का अनुसरण सामान्य जनों द्वारा किया जाता है। इसीलिए समाज में आदर्श चरित्र वाले नायकों की आवश्यकता पड़ती है। कृष्ण अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, इस जगत में पूर्ण प्रभुत्व का दृष्टान्त प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकट हुए और लोगों को उसी मार्ग का अनुसरण करना होता है। वैदिक आदेश है कि मनुष्य मात्र मानसिक चिन्तन या तर्क द्वारा परब्रह्म को नहीं समझ सकता। उसे महापुरुषों का अनुसरण करना होता है। *महाजनो येन गतः स पन्थाः*। महापुरुषों का अनुसरण किया जाना चाहिए—अन्यथा यदि हम शास्त्रों पर ही अवलम्बित रहें तो कभी कभी हम धूर्तों द्वारा गुमराह किये जा सकते हैं या फिर हम विभिन्न आध्यात्मिक आदेशों को समझ नहीं पाते, अथवा उनका अनुसरण नहीं कर पाते। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि महापुरुषों का अनुसरण किया जाय। चारों ब्राह्मण मुनियों ने कहा कि कृष्ण स्वभावतः गौवों तथा ब्राह्मणों के रक्षक हैं—*गोब्राह्मणहिताय च*। जब कृष्ण इस लोक में थे तो उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया था। वे ग्वालबाल थे और वे ब्राह्मणों तथा भक्तों का अत्यधिक आदर करते थे।

यहाँ पर इसकी भी पुष्टि हुई है कि ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ द्विज हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों ही द्विज हैं, किन्तु इनमें से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। जब दो व्यक्तियों में झगड़ा होता है, तो हर व्यक्ति अपने शरीर के ऊपरी भाग सिर, बाहें तथा उदर—की रक्षा करता है। इसी तरह मानव सभ्यता की असली प्रगति में, सामाजिक शरीर के सर्वोत्तम भाग यथा ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए श्रमिकों की सुरक्षा की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए किन्तु उच्च जातियों को विशेष

सुरक्षा दी जानी चाहिए। मनुष्यों के सारे वर्गों में ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए। उनकी पूजा की जानी चाहिए। जब उनकी रक्षा की जाती है, तो यह ईश्वर के पूजन जैसा होता है। यह यथार्थतः सुरक्षा नहीं है। यह कर्तव्य है। मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को सभी प्रकार से सम्पत्ति तथा मृदु वचन अर्पित करके उनकी पूजा करे। यदि किसी के पास कुछ भी अर्पित करने का कोई साधन नहीं है, तो उन्हें शान्त करने के लिए कम से कम मधुर वचनों का प्रयोग तो करे। भगवान् ने स्वयं कुमारों के प्रति ऐसा आचरण दर्शाया।

यदि नेतृत्व करने वाले इस प्रणाली का सूत्रपात्र नहीं करते तो मानव सभ्यता विनष्ट हो जायेगी। जब कभी भगवान् के भक्तों के लिए जो कि आध्यात्मिक जीवन में अत्यधिक बुद्धिमान हैं कोई सुरक्षा तथा विशिष्ट व्यवहार नहीं होता तब सारा समाज विनष्ट हो जाता है। *नङ्क्ष्यति* शब्द सूचित करता है कि ऐसी सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उसका संहार हो जाता है। जिस प्रकार की सभ्यता संस्तुत की गई है, वह *देवपथ* कहलाती है, जिसका अर्थ है “देवताओं का राजमार्ग।” देवताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे भक्ति में अथवा कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थिर हों। यही शुभमार्ग है, जिसकी रक्षा की जानी चाहिए। यदि समाज के महापुरुष या नेता ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को विशेष सम्मान नहीं प्रदान करते और उन्हें केवल मधुर वाणी ही नहीं, अपितु सारी सुविधाएँ नहीं देते तो मानव सभ्यता की प्रगति का मार्ग नष्ट हो जायेगा। भगवान् स्वयं ही इसकी शिक्षा देना चाहते थे इसलिए उन्होंने कुमारों की इतनी प्रशंसा की।

तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः

क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।

नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तु-

स्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तत्—शुभसूचक मार्ग का वह विनाश; ते—तुम्हारे द्वारा; अनभीष्टम्—पसन्द नहीं किया हुआ; इव—सदृश; सत्त्व-निधेः—सारी अच्छाई का आगार; विधित्सोः—करने के लिए इच्छुक; क्षेमम्—कल्याण; जनाय—सामान्य लोगों के लिए; निज-शक्तिभिः—अपनी ही शक्तियों द्वारा; उद्धृत—विनष्ट किया हुआ; अरेः—विरोधी तत्त्व; न—नहीं; एतावता—इससे; त्रि-अधिपतेः—तीन प्रकार की सृष्टियों के स्वामी का; बत—हे प्रभु; विश्व-भर्तुः—ब्रह्माण्ड के पालक; तेजः—शक्ति; क्षतम्—न्यून; तु—लेकिन; अवनतस्य—विनीत; सः—वह; ते—आपका; विनोदः—आनन्द।

प्रिय प्रभु, आप नहीं चाहते कि शुभ मार्ग को विनष्ट किया जाय, क्योंकि आप समस्त

शिष्टाचार के आगार हैं। आप सामान्य लोगों के लाभ हेतु अपनी बलवती शक्ति से दुष्ट तत्त्व को विनष्ट करते हैं। आप तीनों सृष्टियों के स्वामी तथा पूरे ब्रह्माण्ड के पालक हैं। अतएव आपके विनीत व्यवहार से आपकी शक्ति घटती नहीं, प्रत्युत इस विनम्रता द्वारा आप अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं।

तात्पर्य : ग्वालाबाल बनने से, या सुदामा ब्राह्मण को अथवा नन्द महाराज, वसुदेव, महाराज युधिष्ठिर तथा पाण्डवों की माता कुन्ती जैसे भक्तों को सम्मान देने से, भगवान् कृष्ण के पद में कोई कमी नहीं आई। प्रत्येक व्यक्ति जानता था कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण थे; फिर भी उनका व्यवहार आदर्शमय था। भगवान् *सच्चिदानन्द विग्रह* हैं; उनका स्वरूप पूर्णतया आध्यात्मिक, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण एवं नित्य है। चूँकि सारे जीव उनके अंश हैं, अतः मूलतः वे भी भगवान् के नित्य रूप के उसी गुण से सम्बद्ध हैं जिन से स्वयं भगवान्, किन्तु जब वे अपनी विस्मृति के कारण भौतिक शक्ति माया के संसर्ग में आते हैं, तो उनका अस्तित्व सम्बन्धी स्वभाव प्रच्छन्न हो जाता है। हमें भगवान् कृष्ण के आविर्भाव को इसी भाव से देखना चाहिए जिस भाव से कुमार उनसे प्रार्थना करते हैं। वे शाश्वत रूप से वृन्दावन के ग्वालबाल हैं, वे कुरुक्षेत्र युद्ध के नित्य नायक हैं, वे द्वारका के नित्य ऐश्वर्यवान् राजकुमार हैं और वृन्दावन की गोपिकाओं के प्रेमी हैं। उनके सारे प्राकट्य सार्थक हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों को उनके असली गुण प्रदर्शित करते हैं जिन्होंने परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भुला दिया है। वे सारे कार्य उन्हीं के हितार्थ करते हैं। कृष्ण की इच्छाओं से तथा अर्जुन के माध्यम से कुरुक्षेत्र युद्ध में जो बल का प्रदर्शन हुआ वह भी आवश्यक था, क्योंकि जब लोग अधिक अधार्मिक बन जाते हैं, तो बल आवश्यक हो जाता है। इस सन्दर्भ में अहिंसा धूर्तता है।

यं वानयोर्दममधीश भवान्विधत्ते

वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।

अस्मासु वा य उचितो धियतां स दण्डो

येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यम्—जो; वा—अथवा; अनयोः—उन दोनों का; दमम्—दण्ड; अधीश—हे प्रभु; भवान्—आप; विधत्ते—प्रदान करता है; वृत्तिम्—अच्छा जीवन; नु—निश्चय ही; वा—अथवा; तत्—वह; अनुमन्महि—हम स्वीकार करते हैं; निर्व्यलीकम्—द्वैतरहित;

अस्मासु—हमको; वा—अथवा; यः—जो भी; उचितः—उचित हो; धियताम्—प्रदान किया जाय; सः—वह; दण्डः—दण्ड;
ये—जो; अनागसौ—पापरहित; वयम्—हम; अयुष्महि—नियत किया है; किल्बिषेण—शाप से।

हे प्रभु, आप इन दोनों निर्दोष व्यक्तियों को या हमें भी जो दण्ड देना चाहेंगे उसे हम बिना द्वैत के स्वीकार करेंगे। हम जानते हैं कि हमने दो निर्दोष व्यक्तियों को शाप दिया है।

तात्पर्य : अब चारों कुमार मुनिगण जय तथा विजय नामक दो द्वारपालों को दिये गये शाप को निरस्त करते हैं, क्योंकि अब उन्हें यह चेत हुआ है कि भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला व्यक्ति किसी भी अवस्था में दोषी नहीं हो सकता। यह कहा गया है कि जिसे भी भगवान् की सेवा में अन्तर्निहित श्रद्धा हो या जो वास्तव में दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा हुआ हो उसमें देवताओं के सारे सद्गुण होते हैं। अतएव भक्त कभी भी दोषी नहीं हो सकता। यदि कभी यह पाया जाय कि उसने संयोगवश या किसी क्षणिक व्यवस्था के कारण कोई त्रुटि की है, तो उसे गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए। यहाँ पर जय तथा विजय के शापित होने पर पछतावा व्यक्त किया जा रहा है। अब कुमारगण अपनी स्थिति को रजो तथा तमो गुणों के रूप में सोच रहे हैं और वे भगवान् द्वारा दिये जाने वाले किसी भी प्रकार के दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। सामान्यतया भक्तों के साथ बर्ताव करते समय हमें दोष ढूँढने का प्रयास नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि हुई है कि जो भक्त निष्ठापूर्वक परमेश्वर की सेवा करता है, वह यदि भारी भूल करता भी पाया जाय तो भी उसे साधु ही मानना चाहिए। वह अपनी पहले की आदतों के कारण कोई त्रुटि कर सकता है, किन्तु उसके भगवान् की सेवा में लगे रहने के कारण उस त्रुटि को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः

संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।

भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः

शापो मयैव निमित्तस्तदवेत विप्राः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; एतौ—ये दोनों द्वारपाल; सुर-इतर—आसुरी; गतिम्—गर्भ; प्रतिपद्य—पाकर;
सद्यः—शीघ्र ही; संरम्भ—क्रोध से; सम्भृत—सम्बन्धित होकर; समाधि—मन की एकाग्रता; अनुबद्ध—दृढ़तापूर्वक; योगौ—
मुझसे बँधे; भूयः—पुत्र; सकाशम्—मेरे पास; उपयास्यतः—लौटेंगे; आशु—शीघ्र ही; यः—जो; वः—तुम्हारा; शापः—शाप;
मया—मेरे द्वारा; एव—एकमात्र; निमित्तः—नियत; तत्—वह; अवेत—जानो; विप्राः—हे ब्राह्मणो।

भगवान् ने उत्तर दिया : हे ब्राह्मणो, यह जान लो कि तुमने उनको जो दण्ड दिया है, वह

मूलतः मेरे द्वारा निश्चित किया गया था, अतः वे आसुरी परिवार में जन्म लेने के लिए पतित होंगे। किन्तु वे क्रोध द्वारा वर्धित मानसिक एकाग्रता द्वारा मेरे विचार में मुझसे दृढ़तापूर्वक संयुक्त होंगे और शीघ्र ही मेरे पास लौट आयेंगे।

तात्पर्य : भगवान् ने कहा कि मुनियों द्वारा जय तथा विजय द्वारपालों को जो दण्ड दिया गया था उसकी योजना स्वयं भगवान् द्वारा बनाई गई थी। भगवान् की स्वीकृति के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यह समझ लेना होगा कि वैकुण्ठ में भगवान् के भक्तों को शाप देने के पीछे एक योजना थी और उनकी इस योजना की व्याख्या कई उद्भट अधिकारियों ने की है। कभी कभी भगवान् युद्ध करना चाहते हैं। भगवान् में भी युद्ध करने का उत्साह पाया जाता है, अन्यथा युद्ध क्योंकर प्रकट होता? चूँकि भगवान् हर वस्तु के स्रोत हैं, अतः क्रोध तथा युद्ध प्रवृत्ति भी उनमें निहित रहती है। जब वे किसी के साथ युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें शत्रु खोजना पड़ता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में एक भी शत्रु नहीं है, क्योंकि सारे लोग भगवान् की सेवा में पूर्णतया लगे रहते हैं। इसीलिए कभी कभी वे अपना युद्ध में उत्साह प्रकट करने हेतु इस भौतिक जगत में अवतार-रूप में आते हैं।

भगवद्गीता (४.८) में भी कहा गया है कि भगवान् भक्तों को सुरक्षा प्रदान करने तथा अभक्तों का विनाश करने के लिए ही प्रकट होते हैं। अभक्तगण भौतिक जगत में पाये जाते हैं, आध्यात्मिक जगत में नहीं। अतः जब भगवान् युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें इस जगत में आना पड़ता है। किन्तु परम प्रभु से युद्ध कौन करेगा? कोई भी उनसे युद्ध करने में सक्षम नहीं है। इसलिए क्योंकि इस जगत में भगवान् की लीलाएँ अपने संगियों के ही साथ सम्पन्न की जाती हैं, अन्यो के साथ नहीं, अतः उन्हें ऐसा भक्त ढूँढना पड़ता है, जो शत्रु का अभिनय कर सके। भगवद्गीता में अर्जुन से भगवान् कहते हैं, “हे अर्जुन! तुम तथा मैं दोनों ही इस जगत में कई बार प्रकट हो चुके हैं, किन्तु तुम इसे भूल गये हो जबकि मुझे स्मरण है।” इस तरह भगवान् ने जय तथा विजय से भौतिक जगत में युद्ध करने के लिए उन्हें चुना और यही कारण था कि मुनिगण उन्हें देखने के लिए आये थे और संयोग-वश द्वारपालों को शाप दे दिया गया। भगवान् चाहते थे कि वे दोनों भौतिक जगत में भेजे जाँय, सदा के लिए नहीं बल्कि थोड़े समय के लिए। अतएव, जिस तरह कोई व्यक्ति रंगमंच पर मंच के स्वामी के साथ शत्रु का अभिनय करता है, यद्यपि यह नाटक थोड़े समय के लिए होता है और सेवक तथा स्वामी के मध्य

स्थायी शत्रुता नहीं रहती, उसी तरह सुरजनों (भक्तगणों) को असुरजन या नास्तिक परिवार में जाने के लिए मुनियों द्वारा शाप दिया गया था। कोई भक्त नास्तिक परिवार में जाय, यह आश्चर्यजनक है, किन्तु है केवल दिखावा। छद्म युद्ध समाप्त करने के बाद भक्त तथा भगवान् दोनों पुनः आध्यात्मिक लोकों में मिल जाते हैं। यहाँ पर इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है। निष्कर्ष यह है कि कोई वैकुण्ठलोक से कभी पतित नहीं होता, क्योंकि यह नित्य धाम है। किन्तु भगवान् की इच्छानुसार भक्तगण इस जगत में उपदेशकों या नास्तिकों के रूप में आते हैं। हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक घटना के पीछे भगवान् की योजना रहती है। उदाहरणार्थ, भगवान् बुद्ध अवतार थे फिर भी उन्होंने नास्तिकता का उपदेश दिया, “ईश्वर नहीं है।” किन्तु वास्तव में इसके पीछे एक योजना थी जिसकी कि *भागवत* में व्याख्या की गई है।

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् ।

वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; अथ—अब; ते—वे; मुनयः—मुनिगण; दृष्ट्वा—देखकर; नयन—आँखों का; आनन्द—आनन्द; भाजनम्—उत्पन्न करते हुए; वैकुण्ठम्—वैकुण्ठ लोक; तत्—उसका; अधिष्ठानम्—धाम; विकुण्ठम्—भगवान्; च—तथा; स्वयम्-प्रभम्—आत्म-ज्योतिष।

ब्रह्माजी ने कहा : वैकुण्ठ के स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आत्मज्योतिष वैकुण्ठलोक में देखने के बाद मुनियों ने वह दिव्य धाम छोड़ दिया।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है और इस श्लोक में पुष्टि की गई है, भगवान् का दिव्य धाम स्वयं प्रकाशमान है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्य, चन्द्रमा या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कथन सूचित करता है कि सारे लोक स्वतः प्रकाशित, आत्मनिर्भर तथा स्वतंत्र हैं। वहाँ पर प्रत्येक वस्तु पूर्ण होती है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो एक बार वैकुण्ठलोक चला जाता है, वह कभी नहीं लौटता। वैकुण्ठलोक के निवासी भौतिक जगत में कभी वापस नहीं आते, किन्तु जय तथा विजय की घटना भिन्न प्रकार की थी। वे कुछ काल के लिए भौतिक जगत में आये और तब वैकुण्ठलोक में लौट गये।

भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च ।

प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

भगवन्तम्—भगवान् को; परिक्रम्य—प्रदक्षिणा करके; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; अनुमान्य—जानकर; च—तथा;
प्रतिजग्मुः—वापस आये; प्रमुदिताः—अतीव हर्षित; शंसन्तः—प्रशंसा करते हुए; वैष्णवीम्—वैष्णवों के; श्रियम्—ऐश्वर्य की।

मुनियों ने भगवान् की प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया तथा दिव्य वैष्णव ऐश्वर्य को जान लेने पर वे अत्यधिक हर्षित होकर लौट आये।

तात्पर्य : अब भी हिन्दू मन्दिरों में भगवान् की प्रदक्षिणा करने की सम्मानीय प्रथा है। विशेष रूप से वैष्णव मन्दिरों में अर्चाविग्रह को नमस्कार करने तथा मन्दिर की कम-से-कम तीन बार परिक्रमा करने की व्यवस्था रहती है।

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।

ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् ने; अनुगाँ—अपने दोनों सेवकों (अनुचरों) से; आह—कहा; यातम्—इस स्थान से जाओ; मा—मत;
भैष्टम्—डरो; अस्तु—हो; शम्—सुख; ब्रह्म—ब्राह्मण का; तेजः—शाप; समर्थः—समर्थ होने से; अपि—भी; हन्तुम्—निरस्त करने के लिए; न इच्छे—नहीं चाहता; मतम्—अनुमोदित; तु—प्रत्युत; मे—मेरे द्वारा।

तब भगवान् ने अपने सेवकों जय तथा विजय से कहा : इस स्थान से चले जाओ, किन्तु डरो मत। तुम लोगों की जय हो। यद्यपि मैं ब्राह्मणों के शाप को निरस्त कर सकता हूँ, किन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। प्रत्युत इसे मेरा समर्थन प्राप्त है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक २६ के सम्बन्ध में बतलाया गया है, जितनी भी घटना घटी है उन्हें भगवान् का समर्थन प्राप्त था। सामान्यतया इसकी सम्भावना नहीं थी कि चारों मुनि द्वारपालों पर इतना क्रुद्ध होते, न ही भगवान् अपने दो द्वारपालों की उपेक्षा कर सकते थे, न वैकुण्ठ में एक बार जन्म लेकर कोई वहाँ से वापस आ सकता है। इसलिए ये सारी की सारी घटनाएँ भौतिक जगत में अपनी लीलाओं के हेतु स्वयं भगवान् द्वारा अभिकल्पित थीं। इस तरह वे साफ-साफ कहते हैं कि यह उनकी सहमति से किया गया है। अन्यथा केवल ब्राह्मण-शाप के कारण वैकुण्ठ के वासियों का इस भौतिक जगत में वापस आना असम्भव होता। भगवान् ने इन तथाकथित दोषियों को विशेष रूप से आशीर्वाद दिया, “तुम लोगों की जय हो।” भगवान् जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं वह भक्त कभी पतित

नहीं होता। यही इस घटना का निष्कर्ष है।

एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा ।
पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह प्रस्थान; पुरा—प्राचीन काल में; एव—निश्चय ही; निर्दिष्टम्—पहले से बतलाया गया; रमया—लक्ष्मी द्वारा;
क्रुद्धया—क्रुद्ध; यदा—जब; पुरा—पहले; अपवारिता—रोकी गई; द्वारि—द्वार पर; विशन्ती—प्रवेश करते; मयि—जब मैं;
उपारते—विश्राम कर रहा था।

वैकुण्ठ से यह प्रस्थान लक्ष्मीजी ने पहले ही बतला दिया था। वे क्रुद्ध थीं, क्योंकि जब उन्होंने मेरा धाम छोड़ा और वे फिर लौटीं तो तुमने उन्हें द्वार पर रोक लिया जब कि मैं सो रहा था।

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम् ।
प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मयि—मुझमें; संरम्भ-योगेन—क्रोध में योग के अभ्यास द्वारा; निस्तीर्य—से मुक्त किया गया; ब्रह्म-हेलनम्—ब्राह्मणों की
अवज्ञा का फल; प्रत्येष्यतम्—वापस आयेंगे; निकाशम्—निकट; मे—मेरे; कालेन—कालक्रम में; अल्पीयसा—अत्यन्त अल्प;
पुनः—फिर।

भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों वैकुण्ठवासियों को आश्वस्त किया : क्रोध में योगाभ्यास द्वारा तुम ब्राह्मणों की अवज्ञा करने के पाप से मुक्त हो जाओगे और अत्यल्प अवधि में मेरे पास वापस आ जाओगे।

तात्पर्य : भगवान् ने जय तथा विजय नामक दोनों द्वारपालों को यह सलाह दी कि क्रोध में भक्तियोग के अभ्यास के बल पर वे ब्राह्मण-शाप से मुक्त हो जायेंगे। श्रील मध्व मुनि ने इस सन्दर्भ में टिप्पणी की है कि भक्तियोग का अभ्यास करने से मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो सकता है—यहाँ तक कि ब्रह्मशाप अर्थात् ब्राह्मण द्वारा दिया गया शाप जिसका किसी अन्य साधन से निवारण नहीं किया जा सकता भक्तियोग द्वारा निवारित हो सकता है।

मनुष्य भक्तियोग का अभ्यास कई रसों में कर सकता है। रस बारह हैं—पाँच प्राथमिक तथा सात गौण। पाँच प्रमुख रसों से प्रत्यक्ष भक्तियोग की रचना होती है, किन्तु सात गौण रस अप्रत्यक्ष होकर भी भक्तियोग के ही अन्तर्गत गिने जाते हैं, यदि उनका प्रयोग भगवान् की सेवा में किया जाए। दूसरे शब्दों

में, भक्तियोग में सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई किसी तरह से पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति आसक्त हो जाता है, तो वह भक्तियोग में लग जाता है जैसाकि श्रीमद्भागवत (१०.२९.१५) में वर्णन हुआ है— कामं क्रोधं भयम्। गोपियाँ काम-सम्बन्ध में भक्तियोग द्वारा कृष्ण के प्रति आकृष्ट थीं। इसी तरह कंस अपनी मृत्यु के भय के कारण भक्तियोग के प्रति आसक्त था। इस तरह भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि भगवान् का शत्रु बनने तथा सदैव उनके विषय में सोचने पर अतिशीघ्र मनुष्य का उद्धार हो सकता है। कहा गया है— *विष्णु भक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद् विपर्ययः*—विष्णु के भक्त देवता कहलाते हैं जबकि अभक्तगण असुर कहलाते हैं। किन्तु भक्तियोग इतना शक्तिशाली है कि सुर तथा असुर दोनों ही इससे लाभ उठा सकते हैं, यदि वे भगवान् का सदैव चिन्तन करें। भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है परमेश्वर के विषय में निरन्तर चिन्तन करना। भगवद्गीता (१८.६५) में भगवान् कहते हैं— *मन्मना भव मद्भक्तः*—सदैव मेरा चिन्तन करो। चाहे कोई जिस तरह से चिन्तन करे इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता; भगवान् का चिन्तन करना ही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है।

भौतिक लोकों में पापकर्मों की विभिन्न कोटियाँ हैं जिनमें से ब्राह्मण या वैष्णव का अनादर करना सबसे अधिक पापपूर्ण है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य इस गम्भीर पाप से भी मात्र विष्णु का चिन्तन करके, वह भी अनुकूल रीति से नहीं, अपितु क्रोध में करके, छुटकारा पा सकता है। इस तरह जो अभक्तगण सदैव विष्णु का चिन्तन करते हैं, वे भी सारे पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं। कृष्णभावनामृत सर्वोच्च प्रकार की सोच है। इस युग में भगवान् विष्णु का चिन्तन हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे कीर्तन द्वारा किया जाता है। *भागवत* के कथनों से ऐसा लगता है कि यदि कोई कृष्ण का चिन्तन शत्रु के रूप में भी करता है, तो यह विशेष योग्यता— *विष्णु या कृष्ण का चिन्तन*—उस के सारे पापों को धो डालता है।

द्वाःस्थावादिश्य भगवान्विमानश्रेणिभूषणम् ।
सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

द्वाः-स्थौ—द्वारपालों को; आदिश्य—आदेश देकर; भगवान्—भगवान्; विमान-श्रेणि-भूषणम्—उच्च कोटि के विमानों से सदैव विभूषित; सर्व-अतिशयया—हर प्रकार से अत्यधिक ऐश्वर्यशाली; लक्ष्म्या—ऐश्वर्य; जुष्टम्—से सजाया गया; स्वम्—अपने; धिष्ण्यम्—धाम में; आविशत्—वापस चले गये।

वैकुण्ठ के द्वार पर इस प्रकार बोलकर भगवान् अपने धाम लौट गये जहाँ पर अनेक स्वर्गिक विमान तथा सर्वोपरि सम्पत्ति तथा चमक-दमक रहती है।

तात्पर्य : इस श्लोक से स्पष्ट है कि सारी घटनाएँ वैकुण्ठलोक के प्रवेश द्वार पर घटीं। दूसरे शब्दों में, मुनिगण वस्तुतः वैकुण्ठलोक के भीतर नहीं, अपितु द्वार पर थे। यह पूछा जा सकता है कि, “यदि वे वैकुण्ठलोक में प्रविष्ट हुए तो फिर वे भौतिक जगत में किस तरह लौट पाये?” किन्तु वास्तव में उन्होंने प्रवेश नहीं किया, अतएव वे लौट आये। ऐसी ही अनेक घटनाएँ हैं जहाँ महान् योगी तथा ब्राह्मण अपने योगाभ्यास के बल पर इस भौतिक जगत से वैकुण्ठलोक गये किन्तु उन्हें वहाँ रुकना नहीं था। वे वापस आ गये। यहाँ पर इसकी भी पुष्टि की गई है कि भगवान् अनेक वैकुण्ठ के विमानों से घिरे थे। यहाँ पर वैकुण्ठलोक को भव्य ऐश्वर्य से युक्त बताया गया है, जो इस भौतिक जगत से कहीं अधिक था।

देवताओं समेत अन्य सारे जीव ब्रह्मा से उत्पन्न हैं और ब्रह्मा भगवान् विष्णु से उत्पन्न हैं। *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—भगवान् विष्णु भौतिक जगत की समस्त अभिव्यक्तियों के उद्गम हैं। जो यह जानते हैं कि भगवान् विष्णु सभी वस्तुओं के उद्गम हैं, जो सृजन विधि से ज्ञात हैं और जो यह समझते हैं कि विष्णु या कृष्ण समस्त जीवों में सर्वाधिक पूज्य विषय हैं, वे वैष्णवों के रूप में विष्णु की पूजा करते हैं। वैदिक मंत्र भी इसकी पुष्टि करते हैं—*ॐ तद् विष्णोः परमं पदम्*। जीवन का लक्ष्य विष्णु को समझना है। *भागवत* में भी अन्यत्र इसी की पुष्टि हुई है। मूर्ख लोग यह न जानते हुए कि विष्णु परम पूज्य विषय हैं इस भौतिक जगत में अनेक पूज्य विषयों की सृष्टि करते हैं, अतएव वे नीचे गिर जाते हैं।

तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः ।

हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; तु—लेकिन; गीर्वाण-ऋषभौ—देवताओं में सर्वश्रेष्ठ; दुस्तरात्—बच सकने में असमर्थ; हरि-लोकतः—हरि के धाम वैकुण्ठ से; हत-श्रियौ—सौन्दर्य तथा कान्ति से हीन; ब्रह्म-शापात्—ब्राह्मण के शाप से; अभूताम्—हो गये; विगत-स्मयौ—खिन्न।

किन्तु वे दोनों द्वारपाल, जो कि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ थे, जिनका सौन्दर्य तथा कान्ति

ब्राह्मणों के शाप से उतर गए थे, खिन्न हो गये और भगवान् के धाम वैकुण्ठ से नीचे गिर गये ।

तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः ।

हाहाकारो महानासीद्विमानाच्छेषु पुत्रकाः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तदा—तब; विकुण्ठ—परमेश्वर के; धिषणात्—धाम से; तयोः—दोनों; निपतमानयोः—गिर रहे थे; हाहा-कारः—निराशा में गर्जते हुए; महान्—महान्; आसीत्—घटित हुआ; विमान-अच्छेषु—सर्वोत्तम विमानों में; पुत्रकाः—हे देवताओ ।

तब, जब जय तथा विजय भगवान् के धाम से गिरे तो अपने भव्य विमानों में बैठे हुए सारे

देवताओं ने निराश होकर उत्कट हाहाकार किया ।

तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः ।

दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों द्वारपाल; एव—निश्चय ही; हि—सम्बोधन किया; अधुना—अब; प्राप्तौ—प्राप्त करके; पार्षद-प्रवरौ—महत्त्वपूर्ण संगी; हरेः—भगवान् के; दितेः—दिति के; जठर—गर्भ; निर्विष्टम्—प्रवेश करते हुए; काश्यपम्—कश्यप मुनि का; तेजः—वीर्य; उल्बणम्—अत्यन्त प्रबल ।

ब्रह्मा ने आगे कहा : भगवान् के उन दो प्रमुख द्वारपालों ने अब दिति के गर्भ में प्रवेश किया है और कश्यप मुनि के बलशाली वीर्य से वे आवृत हो चुके हैं ।

तात्पर्य : यहाँ पर स्पष्ट प्रमाण है कि मूलतः वैकुण्ठलोक से आने वाला जीव किस तरह भौतिक तत्त्वों में बन्दी हो जाता है । जीव पिता के उस वीर्य में शरण पाता है, जो माता के गर्भ में प्रविष्ट किया जाता है और माता के पायसीकृत डिम्ब की सहायता से जीव विशेष प्रकार के शरीर में बढ़ता है । इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि कश्यपमुनि का मन तब व्यवस्थित नहीं था जब उन्होंने हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु नामक दोनों पुत्रों का गर्भाधान किया । अतएव उनका जो वीर्य स्खलित हुआ वह एकसाथ अतीव शक्तिशाली एवं क्रोध के गुण से मिश्रित था । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिशु का गर्भाधान करते समय मन को धीर तथा भक्तिमय रखना चाहिए । इस कार्य के लिए वैदिक शास्त्रों में गर्भाधान संस्कार की संस्तुति की जाती है । यदि पिता का मन संयत नहीं होता तो स्खलित हुआ वीर्य बहुत अच्छा नहीं होगा । इस तरह पिता तथा माता से उत्पन्न पदार्थ के भीतर लिपटा हुआ जीव हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु जैसा आसुरी होगा । गर्भाधान की परिस्थितियों का सावधानी के साथ

अध्ययन करना चाहिए। यह अतिमहान् विज्ञान है।

तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः ।

आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन; असुरयोः—दोनों असुरों के; अद्य—आज; तेजसा—तेज से; यमयोः—जुड़वों का; हि—निश्चय ही; वः—तुम सारे देवताओं का; आक्षिप्तम्—क्षुब्ध; तेजः—शक्ति; एतर्हि—इस प्रकार निश्चय ही; भगवान्—भगवान्; तत्—वह; विधित्सति—करना चाहता है।

यह इन जुड़वे असुरों का तेज है, जिसने तुम सबों को विचलित किया है, क्योंकि इसने तुम्हारी शक्ति को कम कर दिया है। किन्तु मेरी शक्ति में कोई इसका उपचार नहीं है, क्योंकि भगवान् स्वयं ही यह सब करना चाहते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष, जो पहले जय तथा विजय थे, असुर बने, किन्तु इस जगत के देवता उन्हें नियंत्रित नहीं कर सके, अतएव ब्रह्मा ने कहा कि न तो वे, न ही सारे देवता, उनके द्वारा किये जा रहे उपद्रवों का शमन कर सकते थे। वे इस जगत में भगवान् के आदेश से आये थे और वे ही ऐसे उत्पातों का शमन कर सकते थे। दूसरे शब्दों में, यद्यपि जय तथा विजय ने असुरों के शरीर धारण कर लिये थे, किन्तु वे अन्यो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बने रहे। इस तरह यह सिद्ध हो गया कि भगवान् में युद्ध करने की इच्छा थी, क्योंकि उनके भीतर युद्ध करने की भी भावना रहती है। वे हर बात में मौलिक हैं, किन्तु जब वे युद्ध करना चाहते हैं, तो उन्हें भक्त के साथ युद्ध करना होता है। इसलिए उनकी इच्छा से ही जय तथा विजय को कुमारों द्वारा शापित होना पड़ा। भगवान् ने द्वारपालों को भौतिक जगत में जाकर अपने शत्रु बनने का आदेश दिया जिससे वे उनसे युद्ध कर सकें। इस तरह युद्ध करने की उनकी इच्छा की तुष्टि उनके निजी भक्तों की सेवा द्वारा हो सकेगी।

ब्रह्मा ने देवताओं को दिखलाया कि अंधकार के द्वारा उत्पन्न स्थिति जिसके कारण वे सभी विचलित थे परमेश्वर की इच्छा थी। वे यह दिखा देना चाहते थे कि यद्यपि ये दोनों अनुचर असुरों के रूप में आ रहे थे, वे अत्यन्त शक्तिशाली थे, देवताओं से भी बढ़कर जो उनको नियंत्रित नहीं कर सके। कोई भी परमेश्वर के कार्यों का पार नहीं पा सकता। देवताओं को यह भी सलाह दी गई है कि इस घटना का निवारण करने का प्रयास न करें, क्योंकि यह भगवान् द्वारा आदेशित थी। इसी तरह कोई भी

व्यक्ति जिसे इस जगत में कोई कार्य करने का, विशेष रूप से उनकी महिमा का प्रचार करने का, आदेश दिया जाता है, उसका प्रतिकार कोई नहीं कर सकता। सभी परिस्थितियों में भगवान् की इच्छा पूरी होकर रहती है।

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः ।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; यः—जो; स्थिति—पालन-पोषण; लय—विनाश; उद्भव—सृष्टि; हेतुः—कारण; आद्यः—सबसे प्राचीन पुरुष; योग-ईश्वरैः—योग के स्वामियों द्वारा; अपि—भी; दुरत्यय—आसानी से समझा नहीं जा सकता; योग-मायः—उनकी योगमाया शक्ति; क्षेमम्—कल्याण, मंगल; विधास्यति—करेगा; सः—वह; नः—हमारा; भगवान्—भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के नियन्ता; तत्र—वहाँ; अस्मदीय—हमारे द्वारा; विमृशेन—विचार-विमर्श; कियान्—क्या; इह—इस विषय में; अर्थः—लाभ।

हे प्रिय पुत्रो, भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों के नियन्ता हैं और वे ब्रह्माण्ड की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी अद्भुत सृजनात्मक शक्ति योगमाया योगेश्वरों तक से आसानी से नहीं समझी जा सकती। सबसे प्राचीन पुरुष भगवान् ही हमें बचा सकते हैं। किन्तु इस विषय पर विचार-विमर्श करने से हम उन की ओर से और क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जब भगवान् कोई व्यवस्था करते हैं, तो उससे मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए, भले ही उसकी गणना के अनुसार वह विपरीत क्यों न लगे। उदाहरणार्थ, कभी कभी हम देखते हैं कि कोई शक्तिशाली प्रचारक मार डाला जाता है या कभी कभी वह कष्ट में पड़ जाता है, जिस तरह हरिदास ठाकुर के साथ हुआ। वे एक महान् भक्त थे, जो इस भौतिक जगत में भगवान् की महिमा का प्रचार करके भगवान् की इच्छा को पूरा करने आये थे। किन्तु हरिदास को बाईस बाजारों में मारे पीटे जाकर काजी के हाथों से दण्डित होना पड़ा। इसी तरह जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ाया गया तथा प्रह्लाद महाराज को अनेकानेक यातनाओं से गुजरना पड़ा। कृष्ण के प्रत्यक्ष मित्र पाण्डवों ने अपना राज्य खो दिया, उनकी पत्नी अपमानित की गई और उन्हें अनेक कठिन यातनाएँ उठानी पड़ीं। इन पराजयों से भक्तों को प्रभावित होते देखकर मनुष्य को विचलित नहीं होना चाहिए। उसे केवल इतना समझ लेना चाहिए कि इन मामलों में अवश्य ही भगवान् की कोई न कोई योजना होगी। *भागवत* का निष्कर्ष

है कि शुद्ध भक्त ऐसी पराजयों से विचलित नहीं होता। वह विपरीत स्थितियों को भी भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार करता है। जो व्यक्ति विपरीत अवस्थाओं में भी भगवान् की सेवा करता रहता है, वह आश्वस्त रहता है कि वह भगवद्धाम या वैकुण्ठलोकों को वापस जायेगा। ब्रह्माजी ने देवताओं को आश्वस्त किया कि इस विषय में बात करने से कोई लाभ नहीं कि अंधकार की विचलित करने वाली स्थिति किस तरह घटित हो रही है, क्योंकि वास्तविकता तो यह थी कि इसका आदेश भगवान् द्वारा दिया गया था। ब्रह्मा इसे जानते थे, क्योंकि वे महान् भक्त थे। वे भगवान् की योजना को समझ सकते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “वैकुण्ठ के दो द्वारपालों जय-विजय को मुनियों द्वारा शाप” नामक सोलहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।